LEARN GEETA
तस्मात् योगी भवार्जुन

॥ श्रीहरिः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 3: कर्मयोग

2/3 (श्लोक 8-17), शनिवार, 06 जुलाई 2024

विवेचक: गीता विशारद डॉ. संजय जी मालपाणी

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/rY9WFE98BmE

कर्म से जनित - कर्मयोग

भक्त शिरोमणि हनुमान जी के गुणों एवं ख्याति की चालीस चौपाइयों में वर्णित काव्यात्मक स्तुति हनुमान चालीसा पाठ के पश्चात मङ्गलाचरण, दीप प्रज्वलन और सद्गुरु को वन्दन कर आज के विवेचन सत्र का शुभारम्भ हुआ।

गुरुर्ब्रह्मा ग्रुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का चिन्तन मन्थन यदि लोकमान्य तिलक जी द्वारा रचित **गीता रहस्य** के सन्दर्भ में करें तो यह अध्याय, सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता का निचोड़ है। तीसरा अध्याय लोकमान्य जी को अत्यन्त प्रिय था। उनकी अनुभूति के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग का ग्रन्थ है। हम अपने स्वधर्म का पालन करते हुए, नित्य क्रियाओं का निर्वाह करते हुए भी किस प्रकार योग में लीन हो पायेंगे, इसकी सबसे प्रभावशाली कुञ्जी है - **कर्मयोग।** हमने कई बार ऐसा अनुभव किया होगा कि अपने सांसारिक जीवन से क्षुब्ध होकर कुछ लोग सब कुछ त्याग वृन्दावन जाने की बात कर बैठते हैं। इस अध्याय में हमें बोध होगा कि अपने नित सामान्य जीवन को भी योग में बदल पाना सम्भव है।

जीवन में होने वाली घटनाओं का यदि अवलोकन करें तो समझ में आता है-

जीवन की हर घटना दो बार घटती है-

एक बार हमारे मन में और दूसरी बार प्रत्यक्ष रूप में।

बिना मन में घटे कोई भी घटना साकार हो बाहर प्रकट नहीं होती। हमारे द्वारा किये गए इस कर्म से जब कर्त्ता का भाव, अर्थात् **मैं** का बोध मिट जाये तो वही कर्म, योग में परिवर्तित हो जाता है। जब हम अपने कर्म में '**मैं और मेरा**' के भाव को परिवर्तित कर समष्टि का भाव जागृत कर पाएँ तो वह कर्मयोग हो जाता है। इस तथ्य को गीता परिवार से जुड़े हुए साधकों के उदाहरण से भली भाँति समझ सकते हैं। गीता परिवार के साधक बिना किसी अर्थ की कामना किए, स्वेच्छा से, अपना कर्त्तव्य मान, सेवा प्रदान करते हैं, अतः उनका हर कर्म, कर्मयोग हो जाता है। 'मैं अपने मन को आनन्दित करने के लिए यह कार्य करता या करती हूँ', सभी साधक इसी भाव से कार्य करते हैं तो उनका काज यज्ञ का रूप धारण कर लेता है।

श्रीभगवान् ने सातवें श्लोक में कहा -

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन |
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते || 7||

मन द्वारा इन्द्रियों को वश में रखकर किया गया कर्म श्रेष्ठतम कहलाता है। मन को संयमित कर इन्द्रियों को संयमित करना आवश्यक है क्योंकि मन सबसे प्रबल और शक्तिशाली इन्द्रिय है। जैसे उपवास रखकर भी अगर मन स्वादिष्ट व्यञ्जनों की चाह में उलझा रहे तो वह व्यक्ति मिथ्याचारी है और सदैव मूढ़ ही रहेगा। मन से इन्द्रियों को नियन्त्रित कर पाना श्रेयस्कर है। मन को संयमित करना अत्यन्त जटिल काज है, इन्द्रियों को वश में करने की अपेक्षा। यदि हम कोई काम इस उद्देश्य से करें कि उससे हमें प्रसिद्धि मिल जाये तो यह है लोकेषणा, जो वित्तेषणा से भी भयङ्कर है।

हनुमान जी जब सीता मैया की खोज के लिए लङ्का की ओर उड़े तो कितने ही व्यवधान उन्हें मार्ग से डगमगाने के लिए उत्पन्न किये गए। मैनाक पर्वत ऊपर उठ उन्हें विश्राम करने का प्रलोभन देता है। विश्राम इन्द्रियों का भोग है, हनुमान जी बड़ी विनम्रता के साथ विश्राम करने के प्रस्ताव को अस्वीकारते हैं। वे पर्वत शिखर को अत्यन्त आदरपूर्वक अपना पिता का मित्र सम्बोधित करते हुए नमन करते हैं और उनसे समय के अभाव का कारण देते हुए वहाँ से प्रस्थान करते हैं। अगर वे रुक जाते तो पर्वत उन्हें अपने अन्दर ले डुबा देता। उसके बाद आगे मार्ग में सुरसा राक्षसी प्रकट होती है जो उनके लिए फिर एक बाधा बनती है। सुरसा हनुमान जी को बिना उसके मुख से गुज़रे आगे निकलने की आज्ञा नहीं देती। हनुमान जी इस बाधा से पार होने के लिए पहले एक विराट रूप धारण करते हैं और फिर यकायक सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो सुरसा के मुख में प्रवेश कर, इससे पहले कि वह मुख बन्द कर पाए बाहर निकल आते हैं।

यह सूक्ष्म हो जाना, अर्थात शून्य हो जाना, कर्म को कर्मयोग में बदलने की विधा है। मन से शून्य हो जाना, उसमें उत्पन्न होने वाली आशाओं से मुक्त हो पाना-

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। || 16.12 ||

योग की विद्या मन को शून्य करने की विधा है। यम, नियम के साथ आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा मन की शुद्धि के मार्ग हैं, जब तक मन विचारों से शुद्ध नहीं हो जाता। विचार से ही विकार हैं, पहले मन में विचार उत्पन्न होता है, फिर विकार पनपते हैं। निर्विकार हो पाना से तात्पर्य है - अपने षट् रिपु -

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, और मात्सर्य

पर विजय प्राप्त कर लेना।

हनुमानजी का शून्य हो जाना इस तथ्य का बोधक है। फिर आगे मार्ग में उनका सामना सिंहिका नामक अद्भुत राक्षसी से होता है जो नभ में उड़ते हुए जीव जन्तुओं की छाया को पकड़ कर उन्हें ज़मीन पर गिरा देती है और फिर उस पर वार करती है। आजकल सामाजिक व्यक्ति भी छायाचित्र के मायाजाल में अटके हुए हैं। अपनी प्रसिद्धि हेतु अपना चित्र हर जगह छपवाने के विशेष अवसर ढूँढते रहते हैं। यह लोकेषणा की लालसा भी व्यक्ति के पतन का मार्ग बन सकती है।

परमपूज्य स्वामी गोविन्ददेव गिरि जी महाराज के गीता परिवार के सिद्धान्त वाक्य हैं-

गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें'

इसने भी गीता सेवियों और साधकों के लिए मुक्ति का नवीन मार्ग खोल दिया है। हर प्रकार के विकार को त्याग गीताजी के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पित कर देना, ऐसा परम सौभाग्य है जो कर्मयोग है, जिससे स्वयं का उत्थान सुनिश्चित है।

इस श्लोक में श्रीभगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं कि, नियम से अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला और समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करने वाला, व्यक्ति ही श्रेष्ठ होता है। यह नियम निश्चय से ही आता है। बिना निश्चय नियम का पालन नहीं हो पाता। अपने जीवन में हमने कई बार इसका अनुभव किया होगा, जैसे नववर्ष के आरम्भ में अनेक सङ्कल्प लिए जाते हैं, पर कुछ ही सप्ताह उपरान्त उन्हें भुला भी दिया जाता है। नियम से नियमन और निश्चय से ही नियम इसलिए जीवन में सत्सङ्कल्पों का निश्चय सदा होते रहना चाहिए। मन में जब सत्सङ्कल्प उठते हैं तो उन्हें सार्थक करने हेतु मानव हर सम्भव प्रयास करने लगता है। मन और बुद्धि के परिश्रम से विजय प्राप्त होती है -

यतात्मा दृढनिश्चयः

अर्जुन को विजय प्राप्त कराने के लिए ही श्रीमद्भगवद्गीता कही गयी। अर्जुन के मन को परिपक्व बनाने के लिए, कर्त्तव्य बोध समझाने के लिए कि यह युद्ध सिंहासन के लिए नहीं अपितु आततायियों को देहदण्ड दिलवाने के लिए किया जा रहा है। अर्जुन जब तक 'मैं और मेरे' के भाव में अटके हुए थे तब तक युद्ध लड़ना एक कर्म था पर जब भाव धर्म की रक्षा का हो गया तो युद्ध लड़ना भी कर्मयोग हो गया।

3.8

नियतं(ङ्) कुरु कर्म त्वं(ङ्), कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥3.8॥

तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्तव्य कर्म कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

विवेचन: श्रीभगवान् अर्जुन को समझाते हुए कहते है कि जीवन निर्वाह के लिए कर्म अनिवार्य है। शास्त्र द्वारा नियत किया गया कर्म करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है क्योंकि कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं हो सकता। अगर कोई संन्यास भी ले ले तो भी जीवित रहने के लिए, भोजन के लिए भिक्षा तो माँगनी ही पड़ेगी। यदि उद्देश्य केवल शरीर निर्वाह नहीं अपितु उससे कहीं बढ़कर, यदि कोई मोक्ष की आकांक्षा रखता है तो उसे नियत रूप से स्वधर्म का आचरण करना पड़ेगा। कर्त्तव्य के नाते हर क्षत्रिय का धर्म युद्ध लड़ना है। श्रीभगवान् ने दूसरे अध्याय में भी स्पष्ट किया है कि जो क्षत्रिय होकर भी युद्ध से भागे उसकी ऐसी निन्दा होती है जो मरण से भी अधिक पीड़ाकारक है।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।2.31।।

श्रीभगवान् अर्जुन को बार-बार उसका कर्त्तव्य समझा रहे हैं और उसे प्रेरणा दे रहे हैं कि वे केवल कर्म नहीं, अपितु कर्मयोग करें ताकि उनकी प्रजा को कौरवों जैसे आततायियों के भय से मुक्ति मिले।

वर्तमान सन्दर्भ में श्रीभगवान् के इस उपदेश को हम अपने जीवन में कैसे उतार सकते हैं, यदि यह विचार मन में आये तो युद्ध करने का अधिकार श्रीभगवान् केवल सेनानियों, सेनापतियों को देश और न्याय की सुरक्षा हेतु दे रहे हैं। अन्य लोगों का स्वधर्म वह है जो उन्होंने स्वीकृत किया है और जो उन्हें नीयत से प्राप्त है। उदाहरण के लिए, एक शिक्षक का धर्म है कक्षा में प्रत्येक बालक को शिक्षा प्रदान करना पर यदि कोई बालक ठीक से पढ़ाई नहीं करे तो शिक्षक का धर्म है कि वह उस बालक की अज्ञानता को मिटाने के लिए हर सम्भव प्रयास करे। बालक के अज्ञान का हरण करने के लिए अपने सम्पूर्ण मानसिक और शारीरिक बल का उपयोग कर बालक के भविष्य का निर्माण करना शिक्षक का नियत कर्म है। उसी प्रकार गृहिणी का कर्त्तव्य है - गृह कार्यों में दक्षता। रसोई बनाना गृहिणी का नियत कर्म है पर वह अपनी रसोई बनाते समय यह भाव रख ले कि वह

श्रीभगवान् को प्रसाद भोग कराने के लिए भोजन बनाती है तो उसका कर्म कर्मयोग बन जाता है और उसके हाथों से प्रसाद जैसे हितकारी भोजन का निर्माण होता है।

3.9

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं(ङ्) कर्मबन्धनः।
तदर्थं(ङ्) कर्म कौन्तेय, मुक्तसङ्गः(स्) समाचर॥3.9॥

यज्ञ (कर्तव्य पालन) के लिये किये जाने वाले कर्मों से अन्यत्र (अपने लिये किये जाने वाले) कर्मों में लगा हुआ यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बँधता है, (इसलिये) हे कुन्तीनन्दन ! तू आसक्ति-रहित होकर उस यज्ञ के लिये (ही) कर्तव्य कर्म कर।

विवेचन: बचपन में, पुस्तकों में हमने हवन का चित्र देखा है जिसमें कोई साधु वेशधारी अग्निकुण्ड में घृत और चावल की आहुति डाल रहा है। 'य' की अङ्क लिपि के सम्मुख बनाया गया वह हवन का चित्र यज्ञ का बोधक नहीं।

चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वयं कई प्रकार के यज्ञों की व्याख्या की है-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।4.28।

अग्नि में आहुति देना एक प्रकार का यज्ञ है, लेकिन 'मैं' की भावना से परे रहकर जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञ की परिभाषा में सम्मिलित हैं।

रक्तदान शिविर में भाग ले यदि हम किसी अनजान व्यक्ति के लिए एक बोतल रक्त दान करें या फिर वर्षा ऋतु में वृक्ष लगायें, बिना इस चिन्ता के कि उसके फल किसको प्राप्त होंगे, ऐसे कर्म कर्मयोग बन जाते हैं। इसके विपरीत जो कार्य आसक्ति के साथ, अपना स्वार्थ सिद्ध करने हेतु किया जाता है वह कर्म में बाँध देता है। फल की आशा रख कर किया कार्य कर्म होता है। जब किसी भी कार्य से 'मैं और मेरा' का भाव छूट जायेगा तो व्यक्ति का समष्टि की ओर का प्रवास आरम्भ होगा और वही यज्ञ कर्मयोग कहलाएगा।

3.10

सहयज्ञाः(फ्) प्रजाः(स्) सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम्, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥3.10॥

प्रजापति ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदिकाल में कर्तव्य कर्मों के विधान सहित प्रजा (मनुष्य आदि) की रचना करके (उनसे प्रधानतया मनुष्यों से) कहा कि (तुम लोग) इस कर्तव्य के द्वारा सबकी वृद्धि करो (और) यह (कर्तव्य कर्मरूप यज्ञ) तुम लोगों को कर्तव्य-पालन की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाला हो।

विवेचन: प्रजापति ब्रह्माजी ने यज्ञ करने का उपदेश दिया है पर इसका तात्पर्य नित हवन करना नहीं अपितु, स्वीकृत कर्त्तव्य को, 'मैं' की भावना से परे होकर समष्टि के लिए करना यज्ञ कहलाता है।

ब्रह्माजी ने एक बार अपने तीनों पुत्रों - देव, दानव और मानव को भोजन पर आमन्त्रित किया। जब वे सब एकत्रित हुए तो उन्होंने पिता से कहा कि कई दिनों बाद आपसे भेंट हुई, कृपया कर कुछ उपदेश दीजिये।

ब्रह्माजी केवल 'द' कहकर रुक गए
और बोले यही मेरा उपदेश है।

यह सुन देवता बोला, "पिताजी मैं समझ गया, आप हमें 'द' से दमन की प्रेरणा दे रहे हैं क्योंकि इतनी सुख सुविधाओ में

स्वाभाविक रूप में हम अटक सकते हैं, अतः आप हमें स्वयं पर नियन्त्रण रख इच्छाओं का दमन करने की शिक्षा दे रहे हैं।"

इसके बाद दानव बोले, कि आप हमें दया करने की प्रेरणा दे रहे हैं ताकि हम अत्यधिक हिंसा न करें।

मानव ने कहा, आप हमें दान का पाठ सिखा रहे हैं, हमारे पास जो भी हो उसका कुछ भाग हमें औरों में दान करना चाहिए।

ब्रह्मा जी के इसी उपदेश को इस श्लोक द्वारा बताया गया है - यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करना। यह वृद्धि साधारण नहीं है, यह समृद्धि है। वृद्धि पैसे, सम्मान से आ जाएगी पर समृद्धि सब अङ्गों से आती है। इसका अगर साक्षात् अनुभव करना है तो प्रातः काल घर की छत पर प्रकृति के सानिध्य में उगते हुए सूर्य को अर्ध्य देते हुए ह्रऊ से कोई शुभ सङ्कल्प करना चाहिए। अगर पूरी आस्था से सङ्कल्प कर लें तो उसी दिन से उस सङ्कल्प के पूर्ण होने के मार्ग खुलते जाते हैं। ऐसा इसलिए सम्भव है क्योंकि यह मानव शरीर पूर्णतः सृष्टि के साथ जुड़ा हुआ है। ब्रह्माण्ड में जो घटता है, वह शरीर में भी अनुभूत होता है। जब हम अपना तादात्म्य उस विस्तृत सृष्टि के साथ खुले मन से बनाते हैं, तब वह सृष्टि भी हमारी सहयोगी बन जाती है।

प्रकृति का एक नियत कर्म है कि वह हर वस्तु को सन्तुलित करती है जैसे कि एक जगह यदि हवा का दबाव कुछ कम हुआ तो दूसरी तरफ से हवा उस ओर बहने लगती है। यह विज्ञान का विषय है, पर यह प्रकृति का स्वभाव है। अगर कहीं कुछ घटा तो उसे बढ़ाने का कार्य आरम्भ हो जाता है।

इस तथ्य का एक और उदाहरण है - दो महा विश्वयुद्धों के पश्चात् जब जन गणना की समीक्षा की गयी तो ज्ञात हुआ कि युद्ध के उपरान्त पैदा हुए बच्चों में लड़कों की सँख्या लड़कियों से अधिक थी। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि युद्ध में मरने वालों में पुरुषों की सङ्ख्या अधिक थी।

इसी प्रकार, ग्रीष्म ऋतु के उपरान्त बञ्जर धरती में हरियाली लाने के लिए वर्षा ऋतु का आगमन होता है। गङ्गोत्री का उद्गम स्थान बर्फीले पहाड़ों में है, जो धरती की प्यास बुझाने के लिये जल का स्त्रोत बनी।

अतः प्रकृत्ति सृष्टि में सन्तुलन बनाये रखने के लिए क्रियाशील है परन्तु केवल तभी तक जब तक मानवता स्थापित है। जब मानवता ही नीचे गिर जाती है तो प्रकृति भी अपना मुँह फेर लेती है।

3.11

देवान्भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं(म्) भावयन्तः(श्), श्रेयः(फ्) परमवाप्स्यथ॥3.11॥

तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम् कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

विवेचन: देव कौन हैं? चित्र में दर्शित प्रतिमा जिसके दर्शन हम दिन-रात करते हैं, क्या केवल वही देव हैं? देव तो उस हर व्यक्ति, जीव-जन्तु में हैं, मैं जिससे भी मिलूँ। सब प्राणियों में ईश्वर का अंश व्याप्त है, यह भाव ही देव शब्द की परिभाषा है।

शिक्षक के लिए छात्र श्रीकृष्ण का ही रूप होना चाहिए।

यदि यह भाव मन में आ जाये तो गौपालन करने वाले को गौमाता भगवान का ही रूप प्रतीत होगी। जिस गाय की सेवा बहुत प्यार-दुलार से की जाये तो वह गाय भी उस परिवार को प्रेम करने लगती है। भारतीय प्रथा में बड़े बुज़ुर्ग कहते थे कि घर की महिला गाय की सेवा करती है, कई बार अपने छोटे बालक को गोदी में लिए वह चारा डालती या अन्य कोई कार्य करती, तो गाय बालक को प्रतिदिन सूँघती। जब गाय को चराने के लिए बाहर लाया जाता तो वह वही औषधि वनस्पति को चबाती जिससे उस बालक के भोग हेतु दुग्ध निर्मित हो, जिसे ग्रहण कर वह बालक हृष्ट-पुष्ट बने। एक और कहावत है - यदि घर में कोई

बालक अस्वस्थ है तो गाय को सुँघा दो। गाय बालक को सूँघ कर जान लेती है कि उसके लिए कौन सा चारा श्रेयस्कर होगा। यही **परस्पर प्रेम** का भाव है जो हर प्राणी के साथ हम निर्मित कर सकते हैं।

विद्यालय में पढ़ने वाले बालकों के प्रति यदि हरि का स्वरूप समझकर व्यवहार किया जाये तो वे बालक भी बड़े होकर वही प्रेम सत्कार बरसायेंगे।

तू ही है सर्वत्र व्याप्त हरि,
तुझमें है यह सारा संसार,
इसी भावना से अंतर भर मिलूँ
सभी से तुझे निहार।
हर बाला देवी की प्रतिमा,
बच्चा बच्चा राम है ॥

इस भावना से जब बच्चों को सीञ्चा जाता है और स्नेह प्रदान किया जाता है, तो बच्चे इस भाव को कभी भूलते नहीं। वही प्रेम बरसाते हैं।

3.12

इष्टान्भोगान्हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥3.12॥

यज्ञ के द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम लोगों को बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।

विवेचन: केवल स्वयं कभी नहीं भोगना चाहिए, देते रहना चाहिए।

राजसूय यज्ञ की कथा में, भगवान को पूजा का मान दिया गया परन्तु उन्होंने वहाँ भी अपनी सेवा देना ही स्वीकारा। औरों के झूठे पत्तल उठाने जैसा कार्य, जिसे हम सबसे निम्न श्रेणी का समझते हैं, वह उन्होंने सहर्ष स्वीकारा। यजमानों के झूठे पत्तल उठा कर एक स्थान पर एकत्रित कर दिए। उस स्थान पर एक अनोखे नेवले के दर्शन होते हैं जिसका आधा शरीर सोने का और आधा काला था। वह नेवला अपने शरीर को उन पत्तलों में बार-बार ऊपर नीचे घुमाता जा रहा था। जब आसपास जमा लोगों ने आश्चर्य चकित हो इस कृत्य का तात्पर्य समझना चाहा तो नेवले ने मनुष्य वाणी में उत्तर दिया कि, वह अपने शेष अर्ध शरीर को भी स्वर्णिम बनाने का प्रयास कर रहा था।

इससे पूर्व उसका अर्ध शरीर एक महायज्ञ में ही सोने का बन गया था। उस महायज्ञ की झूठन के स्पर्शमात्र से ही उसकी काया स्वर्णिम हो गयी थी। वह महायज्ञ एक निर्धन किसान की परमार्थ की भावना के फलीभूत परिपूर्ण हुआ था।

प्राचीन काल में अत्यन्त भीषण सूखा पड़ा था। किसी के पास भी खाने के लिए अन्न नहीं था। ऐसी आपात स्थिति में उस निर्धन किसान के पास भोजन के लिए केवल एक ही रोटी थी। जब वह भोजन करने लगा तो उसके द्वार पर एक अतिथि उपस्थित हुआ जो उससे अन्न के लिए आग्रह करने लगा। किसान ने अपनी रोटी का आधा हिस्सा उसे दिया, पर अतिथि की क्षुधा उस छोटे टुकड़े से शान्त न हुई। उसने किसान से फिर विनती की, कि वह चार दिन से भूखा है, उसे कुछ और अन्न मिल जाये तो उसकी भूख शान्त हो। किसान ने यह सुन अत्यन्त दया भाव से अपने हिस्से की आधी रोटी भी उस अतिथि को यह सोचकर दे दी कि मैंने तो कल ही रोटी खाई थी, मैं एक और दिन बिना अन्न के निर्वाह कर लूँगा। उस अतिथि ने रोटी चख, पानी से जब कुल्ला किया तो उसके मुँह से अन्न के कुछ कण उस कुल्ले की छींटों के साथ जमीन पर गिर गए। वह नेवला उस समय वहाँ उपस्थित था। उसने वह गिरे हुए कण ग्रहण किये और जहाँ कुल्ले से उछला हुआ पानी गिरा था, उस ठण्डी ज़मीन पर कुछ समय के लिए करवट लेकर सो गया। त्याग और परमार्थ के महान भाव से प्रेरित उस प्रतापी अन्न जल के स्पर्श मात्र से, उस करवट की बाजू सुनहरी हो गयी।

वह नेवला उस दिन से वैसे ही पराक्रमी, महादानी यज्ञ की खोज में निकला हुआ है ताकि बचा हुआ शरीर भी सोने का बन जाये। पाण्डवों द्वारा आयोजिय इस राजसूय यज्ञ में भी उसका शरीर सोने का नहीं बन पाया क्योंकि इस यज्ञ में भी 'मैं' का स्वार्थ जुड़ा हुआ है। पाण्डव अपनी महत्ता, अपने पराक्रम, अपने स्वामित्त्व और अधिकार को दुनिया के सामने दर्शाने के लिए यह यज्ञ कर रहे थे । 'मैं और मेरे' के भाव से किये गये कृत्य में इतनी शक्ति नहीं कि उसकी काया पलट कर दे।

जब हम स्वार्थ की भावना न रखते हुए केवल परमार्थ की भावना से दान करें और परहित के लिए योगदान दें, तभी वह यज्ञ बनता है। ऐसा यज्ञ ही हमारे जीवन को समृद्धि की ओर ले जाता है। वृद्धि तो मिल सकती है पर समृद्धि के लिए महान तप की आवश्यकता होती है।

3.13

यज्ञशिष्टाशिनः(स्) सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं(म्) पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात्॥3.13॥

यज्ञशेष- (योग-) का अनुभव करने वाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, वे पापीलोग तो पाप का ही भक्षण करते हैं।

विवेचन: श्रीभगवान् से प्राप्त कृपा का उपयोग अभावग्रस्त की सहायता हेतु करना चाहिए। हमें सात्त्विक दान करना चाहिए। इस दान की व्याख्या स्वयं श्रीभगवान् ने सत्रहवें अध्याय में की है -

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।
17.20

सात्त्विक दान की परिभाषा देते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि बिना किसी स्वार्थ के वह दान जो देश के हित में हो, काल सुसङ्गत हो और जो पात्र व्यक्ति या संस्था को दिया गया हो, वह दान सात्त्विक कहलाएगा अतः अपनी क्षमता अनुसार हमें सदैव दान करते रहना चाहिए। स्वार्थ की भावना से जो केवल अपने पास ही सब इकठ्ठा कर रखेगा, वह पाप का भोग करेगा, पुण्य प्राप्त नहीं कर पायेगा।

3.14, 3.15

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः(ख्) कर्मसमुद्भवः॥3.14॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं(वँ) विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं(म्) ब्रह्म, नित्यं(यँ) यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥3.15॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है। वर्षा यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्मों से सम्पन्न होता है। कर्मों को (तू) वेद से उत्पन्न जान (और) वेद को अक्षरब्रह्म से प्रकट हुआ (जान)। इसलिये (वह) सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्तव्य कर्म) में नित्य स्थित है।

विवेचन: भारतीय मान्यताओं में यह भाव सुदृढ़ है कि पाप जब बढ़ जाता है वर्षा होनी बन्द हो जाती है। जो वर्षा अन्न की जननी है, सृष्टि का पालन-पोषण जिस पर आधारित है, उसका चक्र मनुष्य के कर्मों पर आधारित है।

धरती पर वर्षा बरसाने के लिए हवन में आहुति दी जाती है। जहाँ नि:स्वार्थ भाव से सेवा कार्य किये जाते हैं, वहाँ उस पावन यज्ञ

के सकारात्मक कम्पन से वर्षा निश्चित रूप से होती है। नि:स्वार्थ भाव से किये गए हर कार्य में श्रीभगवान् का अधिष्ठान सर्वथा जागृत हो जाता है।

श्रीभगवान् को यदि अपने निकट रखना है, उनकी अनुभूति सदा प्राप्त करनी है तो प्रतिदिन साँयकाल एक विचार अपनी दिनचर्या का अवश्य कीजिए और यह सुनिश्चित करिये कि कम से कम एक काज तो नि:स्वार्थ भाव से किया हो। केवल 'देने' का भाव रखना भी एक प्रकार का यज्ञ है। दूसरों की सहायता का भाव मन में यदि सदैव जागृत रहे तो उसकी सिद्धि के लिए अनेक अवसर भी प्राप्त होते रहते हैं, मानो सृष्टि आपके कर्म चक्र में आपकी भागीदार बन गयी।

एक समय एक गाँव में अकाल पड़ा तो वहाँ वर्षा प्राप्ति हेतु शिवजी का अभिषेक करने का सङ्कल्प लिया गया। मान्यतानुसार शिवजी को पानी में भिगो कर रखने से वर्षा अवश्य होती है। सब ग्रामवासी अपने-अपने साथ लोटे में पानी लेकर आये और शिव मन्दिर में शिव की प्रतिमा पर चढ़ाते गए। उनमें एक बालक एक हाथ में छोटी कटोरी में जल और दूसरे हाथ में छतरी लेकर वहाँ पहुँचा। उस छोटे बालक का यह कृत्य परमात्मा के साथ उसके अटूट बन्धन और विश्वास को दर्शाता है - 'जब-जब उसको नि:स्वार्थ भाव से याद करोगे तब-तब उसको आना ही पड़ेगा'। बच्चे की श्रद्धा के प्रमाण में उसके द्वारा जल चढ़ाते ही वर्षा की बूँदों ने उस गाँव पर अपनी कृपा बरसा दी। यह काल्पनिक कथा नहीं है।

ईश्वर में अटूट विश्वास से फलीभूत प्रमाण अभी हाल ही में अनुभव किया गया। कुछ विदेशी भारत में योग सीखने आये। भारत भूमि की अद्‌भुत चेतनाओं की कथाएँ जब उनसे साझा की गयीं तो उनमें यह इच्छा प्रबल हुई कि यज्ञ से क्या वास्तव में वृष्टि होती है? वे इसका सजीव अनुभव करना चाहते थे। यह परिस्थिति तो वैसी बन गयी, जिसमें हमारे विश्वास का प्रमाण माँगा जा रहा था। आयोजक ने अपने विश्वास की लाज रखने के लिए ईश्वर से घोर प्रार्थना की और चालीस हवन कुण्ड का निर्माण करवाया। पुरोहित को बुला एक विशाल विज्ञानमय यज्ञ का आयोजन किया गया। हर कुण्ड में पाँच-छ: लोगों द्वारा आहुति दी गयी। विदेशी आगन्तुको को यज्ञ के विधान का अर्थ अङ्ग्रेज़ी भाषा में समझाया गया। शीघ्र ही ईश्वर की भक्ति में कितनी शक्ति होती है, उसका प्रमाण प्राप्त हो गया। आहुति पूर्ण होते ही ईश्वरीय प्रसाद स्वरूप पाँच मिनट के लिए वर्षा हुई और विश्वास विजयी हुआ। श्रीभगवान् का भक्त के साथ कितना सुखदायी रिश्ता है, प्रतिपल इसका उदाहरण इस धरा पर सजीव मिलता रहता है।

केवल मन में अटूट विश्वास और उस परमात्मा के प्रति अपार श्रद्धा रखें
तो सम्पूर्ण जीवन ही उसके प्रसाद जैसा व्यतीत होने लगेगा।

3.16

एवं(म्) प्रवर्तितं(ञ्) चक्रं(न्), नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो, मोघं(म्) पार्थ स जीवति॥3.16॥

हे पार्थ! जो मनुष्य इस लोक में इस प्रकार (परम्परा से) प्रचलित सृष्टि-चक्र के अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला अघायु (पापमय जीवन बिताने वाला) मनुष्य (संसार में) व्यर्थ ही जीता है।

विवेचन: सृष्टि अपने चक्र से सदा सञ्चालित और गतिमान है।

एक बार की बात है कि हिमालय की गोद में बसे तिब्बत देश में एक विदेशी भ्रमण करने आया। तिब्बत देश वृक्ष वल्लियों से हरा भरा, प्रकृति के वरदान से सुसज्जित मनोरम स्थान है। वह विदेशी रात को एक तम्बू में सोया पर रात भर मच्छरों के काटने से परेशान रहा। सुबह उठकर उसने वहाँ के निवासियों से कहा कि उसके देश में मच्छरों से मुक्ति के लिए DDT रसायनिक छिड़का जाता है, तो क्यों न उसका प्रयोग यहाँ पर भी किया जाये। वहाँ के बुज़ुर्गों ने इस सुझाव का विरोध यह कहते हुए किया कि हम जीव हत्या नहीं कर सकते, मच्छरों के तो हम आदि हो चुके हैं। प्रान्त के कुछ युवा विदेशी की बात से समर्थन रखते थे क्योंकि उन्हें भी मच्छरों से कष्ट था। अतः DDT रसायनिक मँगवा कर छिड़काया गया। इस कार्य के फल स्वरूप मच्छरों के साथ-साथ वहाँ की बिल्लियाँ भी उस रसायन चाटने से मर गयीं। बिल्लियों के न रहने पर वहाँ चूहों ने उपद्रव मचा दिया, अन्न

का विनाश करने लगे। सृष्टि के चक्र में व्यवधान पैदा कर तिब्बत के उस ग्राम में आपातकालीन स्थिति का निर्माण हो गया। अन्ततोगत्वा मनुष्य को ही कष्ट उठाना पड़ा।

मनुष्य ने जब भी निसर्ग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की है, प्रकृति ने अपने बल का प्रमाण देते हुए अपना सन्तुलन बार-बार स्थापित किया है। सृष्टि के चक्र को जब-जब मानव ने तोड़ने का प्रयास किया है तब-तब उसके हानिकारक परिणामों को भोगा है।

विशाल नदियों की गति को थामने के लिए बाँध निर्मित किये जाते हैं, पर वृष्टि के वेग से वे बाँध जब टूटते हैं तो सब कुछ डुबो देते हैं।

भारत में कुछ वर्ष पूर्व चारधाम की यात्रा अत्यन्त जटिल एवं कष्टदायी होती थी। यात्रा को सुगम करने के लिए पहाड़ काट कर चौड़ी सड़कों का निर्माण तो कर दिया, पर प्रकृत्ति की रचना से छेड़छाड़ करने के लिए कई दुःखद घटनाएँ भी गत वर्षों में सामने आयीं हैं।

3.17

यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्, आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः(स्), तस्य कार्यं(न्) न विद्यते॥3.17॥

परन्तु जो मनुष्य अपने आप में ही रमण करने वाला और अपने आप में ही तृप्त तथा अपने-आप में ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

विवेचन: अर्जुन ने जब श्रीभगवान् से उन पुरुषों का आचार-व्यवहार समझना चाहा जिनकी बुद्धि समत्त्व को प्राप्त हो गयी तो उसके उत्तर में श्रीभगवान् ने दूसरे अध्याय में कहा-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥55॥

जो स्वयं से सन्तुष्ट रहता है, अर्थात दिन-रात असन्तुष्टि का भाव न रखते हुए, अन्यान्य वस्तु विषयों के भोग की कामना न रखते हुए अपने आप में परिपूर्णता का भाव जगा लेना ही समबुद्धि का पहला पड़ाव है।

असन्तुष्टि हमारे जीवन चक्र को गड़बड़ा देती है, अतः सन्तुष्ट रहना सीखना अनिवार्य है, ताकि हम तृप्त हो जाएँ। जो असन्तुष्ट रहते हैं उनके अन्दर सदैव द्वन्द्व उभरते रहते हैं।

इस सप्ताह हम सब भी यह प्रयास करें कि अपने भीतर सन्तुष्टि का भाव जागृत कर पाएँ। प्रातः उठने से लेकर रात्रि शयन तक वह सन्तोष का भाव चेहरे की स्मित रेखाओं पर खिलकर प्रकट हो। आत्मचित्त की प्रसन्नता आपके मुख मण्डल को सुशोभित कर दे। हम मन में यह भाव ले आयें-

मेरी थाली का भोजन ईश्वर का प्रसाद है,
मेरे द्वारा किया हर कार्य ईश्वर को समर्पित है।

तब हमारी निद्रा भी समाधि हो जायेगी, हमारे विषयोपभोगों की सारी रचना पूजा बन जायेगी, हमारा सञ्चार भी प्रदक्षिणा की विधि बनकर, हमारे मुख से निकला हर शब्द स्तोत्र बन जायेगा।

मेरे द्वार किया गया हर कार्य भगवान शिव का कार्य बन जाये।

आदि शङ्कराचार्य जी द्वारा रचित मानस पूजा का यह स्तोत्र जीवन में यदि उतर जाये तो कर्मयोग आरम्भ हो जाता है।

आत्मा त्वं गिरिजा मति: सहचरा: प्राणा: शरीरं गृहम्
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थिति:।
संचार: पदयो: प्रदक्षिणविधि: स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

केवल तुझे रिझाने को बस तेरा ही व्यवहार करूँ।

इस भाव से श्रीभगवान् की उपासना हमारे पूरे दिन का तन्त्र - मन्त्र बन जाये, तो यही **कर्मयोग** है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- श्रीमती कुन्दन कुमारी दीदी
प्रश्न- बच्चों का चरित्र पवित्र बनाए रखने हेतु क्या करें?
उत्तर- हम स्वयं को बच्चों के पालक होने की बजाय मालिक मान बैठते हैं। बालक मेरा है, यह भाव त्यागकर, ऐसा मानें कि भगवान जी ने भेजा है, इसका पालन करना है, चरित्रवान बनाना है। बालक के पङ्ख बड़े हो गये हैं, इसे बाहर जाने की आवश्यकता है। बाहर जाकर कुसङ्ग के दुष्प्रभाव में न आने पाए, यह आशङ्का मन में आती है। बाह्य प्रदूषण से ये अप्रभावित रहें। हमारे पास जो बच्चे आये हैं, वे हमारे नहीं हैं। वे भगवान के हैं और भगवान सब कुछ ठीक ही करेंगे। जितने हमारे हैं, उससे कई गुणा अधिक वे भगवान के हैं। पूज्य स्वामी जी के सानिध्य से बच्चों के विद्यालय चल रहे हैं। वे बच्चे ही बड़े होकर ऊँचे पाठ्यक्रम में जाते हैं, तो उनका आचरण देखकर मन में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इतना परिवर्तन कैसे हो गया? ऐसा परिवर्तन तात्कालिक ही होता है। बचपन के संस्कार बालक को पुनः लौटा लाते हैं। बच्चा अपने कदमों पर चलना आरम्भ हुआ, उसके कदम थोड़े तो डगमगाएँगे, ऐसा सोचना चाहिए। कुछ कठिनाई और कुछ प्रतीक्षा के बाद बचपन के संस्कारों में लौट आता है। उस पर विश्वास बनाए रखना आवश्यक है। जब तक आप उसे अपने पङ्खों के घेरे से बाहर निकलने नहीं देंगे, तब तक वह अपने पङ्खों के सदुपयोग से स्वतन्त्र उड़ान नहीं भर पायेगा। वह हमारा बच्चा है, किन्तु अपने पूर्वजन्म के सुकृत्य और संस्कार भी साथ लेकर आया है। वह अपना प्रारब्ध साथ लेकर चल रहा है। हमें इसकी आत्मग्लानि नहीं रखनी चाहिए। कर्म का सिद्धान्त है, जो उसने किया है, वह भुगतना पड़ेगा। उसके लिए हम व्यथित न हों, अपितु उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से निर्वहन करें। तृतीय अध्याय कर्मयोग में भगवान ने यही समझाया है।

प्रश्नकर्ता- श्रीमती पद्मिनी अग्रवाल दीदी
प्रश्न- स्वयं को हारने पर धर्मराज युधिष्ठिर का पत्नी को दाँव पर लगाना उचित था, या अनुचित?
उत्तर- द्रौपदी को द्यूत क्रीड़ा के दाँव पर लगाना सर्वथा अनुचित ही था। अपना राज्य अपने भाई और फिर पत्नी को दाँव पर लगाना अनुचित था। धर्मराज युधिष्ठिर ने फिर भी यह सब किया, क्योंकि उनका प्रारब्ध ऐसा ही था। प्रारब्ध से जो होने वाला है, उसे टाला नहीं जा सकता। इस प्रारब्ध के कारण ही धर्मराज युधिष्ठिर स्वयं अधर्म के मार्ग पर चल पड़े। मनुष्य जीवन में ऐसी त्रुटियाँ होती हैं और उन्हें सुधारा भी जाता है। कैकयी को भरत जी की अपेक्षा श्रीराम से अधिक ममत्व था। वही कैकयी मन्थरा के बहकावे में आकर श्रीराम के लिए वनवास माँग लेती है। प्रारब्ध यही था। श्रीराम को वनवास न होता तो, रावण वध न होता। वनगमन के कारण ही श्रीराम का चारित्रिक उत्थान जगत में प्रकट हुआ। उन्होंने अधर्म पर धर्म की विजय पताका लहराई। कैकेयी यदि राम वनवास का वरदान न माँगती तो श्रीराम की कीर्ति पताका न फहरती। कुछ बातें विधि लिखित होती हैं, ऐसी घटनाएँ विधि के अनुसार ही घटती हैं।

प्रश्नकर्ता- अमर भैया
प्रश्न- पारिवारिक व्यस्तता के कारण कभी भगवान की पूजा में विलम्ब हो जाए, तो क्या दोषपूर्ण है?
उत्तर- सांसारिक व्यस्तता के कारण यदि भगवान की पूजा और भोग में विलम्ब हो जाए और मन में ध्यान बना रहे। इसमें दोष नहीं लगता। भगवान की पूजा और भोग में भाव की प्रधानता मुख्य तत्त्व है।

प्रश्नकर्ता- श्री उपेन्द्रनाथ मेहरा
प्रश्न- अहङ्कार, दम्भ, दर्प में क्या अन्तर है?
उत्तर- हमारे पास यदि शक्ति है और उसका हमें गर्व हो जाए तो यह दम्भ है। हमारे पास जो समृद्धियाँ हैं, उनका हम प्रदर्शन करने लगें, हमारे आचरण में उनका प्रदर्शन झलकने लगे, दूसरों को दिखने वाला ऐसा आचरण दर्प है। अभिमान और अहङ्कार में सूक्ष्म अन्तर है। भीतर ही भीतर रहने वाला अभिमान है। बाहर निकल कर लोगों को दिखने वाला अभिमान अहङ्कार कहलाता है। अभिव्यक्त किया गया अभिमान अहङ्कार है। जो अभिव्यक्त नहीं किया गया हो और भीतर भी न चल रहा हो, वह दैवीय है। उपवास बाहर दिखता है, भीतर बार-बार उपवास का भङ्ग होना दिखता नहीं है। कभी-कभी विवेक के अनुसार अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन भी आवश्यक होता है। नारदजी ने सर्प को काटने से रोका। सर्प ने लोगों को काटना बन्द कर दिया, तो लोगों ने उसे पत्थर मारकर लहूलुहान कर दिया। नारदजी ने कहा कि मैंने तुम्हें काटने से रोका है, फुफकारने से नहीं रोका। आवश्यकतानुसार यदि प्रदर्शन करना पड़े और अन्दर से मन निर्मल हो तो यह सही भावना है। भारत देश की नीति है कि हम विस्तारवाद के लिए किसी पर आक्रमण नहीं करेंगे किन्तु अपनी सीमाओं की सुरक्षा सुदृढ़ता से करेंगे। भगवान शिव ताण्डव करते हुए नटराज कहलाते हैं, नटों के राजा नाटक कर रहे हैं। संहार करते हुए भी एक हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में है। हमारा अन्तर्मन शान्त रहे, क्रोध भी केवल सुधार के लिए दिखाया गया हो। अन्दर कोई हलचल न हो।

प्रश्नकर्ता- भगवती भैया
प्रश्न- अपनी गलतियों के कारण आत्मविश्वास में आई कमी को, कैसे दूर करें?
उत्तर- गलती तो हो जाती है। हम सभी कभी न कभी गलती करते रहते हैं।

मनुज गलती का पुतला है,
जो अक्सर हो भी जाती है।
जो करले ठीक गलती को,
उसे इन्सान कहते हैं।।

यह बड़ा सुन्दर गीत स्वामी जी भी अक्सर गाते हैं। इसी अध्याय में श्रीभगवान् जी ने अर्जुन को निष्पाप का सम्बोधन दिया है -

श्रीभगवानुवाच
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥3:3॥

श्रीभगवान् कह रहे हैं - मेरे निष्पाप अर्जुन! मेरी बात सुनो।
यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि जब आपकी शल्यक्रिया हुई, पीड़ा हुई तो जो कुछ भी भुगतना था, यहाँ भुगत लिया है। सारे पाप धुल गये हैं। श्रीगङ्गा जी में डुबकी लगा कर जब लौट आते हैं, निष्पाप हो गये हैं, अब आगे निष्पाप बने रहें, यह भाव मन में बने रहना चाहिए। जीवन के अन्तिम क्षण में भी जीवन की सभी आकाँक्षाएं समाप्त हो जाएँ, पूर्ण समर्पण से साँस निकल जाए, तब श्रीभगवान् कल्याण करते हैं। भगवान के प्रति समर्पण का भाव निरन्तर बना रहना चाहिए-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥9:22॥

ईसा मसीह को जब सूली पर टाँगा गया, तब उन्होंने पहला वाक्य बोला- हे भगवान आप क्या करवा रहे हैं?

अगले ही क्षण उन्होंने कहा - आपके मन में जो है, वह स्वीकार है।

ऐसा लगता है कि इन दोनों वाक्यों के मध्यकाल में ही, उनके भीतर वह घटना घट गयी, जिसने मरियम के उस पुत्र को महान यीशु बना दिया। ध्यान में रखने योग्य है कि हमारे अनेक सन्तों के जीवन में ऐसा घटित हुआ है। उनके उद्धरण हम आगामी सप्ताह जानेंगे। हम सहज जीवन जीना सीखें।

हम अपने अन्दर से सन्तुष्टि का भाव अनुभव करें। हमारे अन्दर का सन्तुष्टि भाव बाहर मुख-मण्डल पर झलकता रहे। जिस-जिस से मिलें उनसे हंसकर बात करें, वह हमारा शत्रु या अवाञ्छित व्यक्ति हो। हमारे जीवन में परिवर्तन परिलक्षित होने लगेगा।

श्रीभगवानुवाच
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||